

यह लेख स्कूली शिक्षा में सीखने की घटिया गुणवत्ता के कारणों की पड़ताल व्यवस्थागत ढांचे में करते हुए बच्चों के बेहतर सीखने के लिए स्कूल व्यवस्था और कक्षा-कक्षीय प्रक्रियाओं में आमूल बदलाव की आवश्यकता पर बल देता है। लेखक बदलाव की संभावना को लोकतांत्रिक पद्धति से स्कूल संचालित किए जाने, शैक्षिक समस्याओं में शिक्षकों की पहल एवं भागीदारी और शिक्षकों की स्वायत्तता में देखते हैं।

शिक्षा में लोकतंत्र : एक ढांचागत पड़ताल

एन. वेणु

हमारी स्कूली व्यवस्था में प्रभाविकता और गुणवत्ता की बुरी महामारी लगी हुई है। अधिकतर स्थितियों में शिक्षार्थी पूर्व-निर्धारित शिक्षाक्रम से गुजरते हैं और ये मशीनी अंदाज में उन शिक्षकों द्वारा बच्चों को परोस दिया जाता है जो विषयों की सामग्री और कक्षा-कक्ष के माहौल में कोई सार्थक बदलाव करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। बच्चे और शिक्षक दोनों स्वायत्तता के अभाव के शिकार-सा प्रतीत होते हैं। स्वायत्तता की इस कमी को सीखने की घटिया गुणवत्ता के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में शायद ही कभी देखा गया हो।

परंपरागत रूप से शिक्षक सत्ता के सबसे निचले पायेदान पर रहा है और प्रधानाध्यापक सबसे ऊपर। कक्षा-कक्ष में भी यही ढांचा काम करता है जहां शिक्षक की एकाकी सत्ता होती है। सरकारी स्कूलों में सत्ता की एक और परत होती है जिसमें प्रधानाध्यापक भी किसी बड़े सत्ता तंत्र का हिस्सा होता है। इसमें सुपरिंटेंडेंट, जिला शिक्षा अधिकारी आदि होते हैं।

इस आलेख में मैं इस बात पर जोर देना चाहूंगा कि हमें वर्तमान व्यवस्था के विकल्प खोजने की ओर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। नए शिक्षाक्रम और शिक्षण पद्धतियां खोजने में हम बहुत समय लगा चुके हैं। नया शिक्षाक्रम हालांकि नवाचार को महत्व देता है लेकिन शायद वह भी तब तक कोई सुपरिणाम न दे पाए जब तक कक्षा और स्कूल में कोई

ढांचागत परिवर्तन न किए जाएं। मैं बदलाव की बात करते हुए वर्तमान व्यवस्था के कुछ विकल्पों को परखते हुए उनके अच्छे और बुरे परिणामों पर भी नजर डालने का प्रयास करूंगा।

बदलाव की जरूरत

इस बात को बहुत पहले ही महसूस किया जा चुका है कि किसी संगठन की संरचना उसके अन्दर काम करने वाले लोगों के आपसी संबंध को तो गहरे प्रभावित करती ही है, उसके लक्ष्यों को पाने की क्षमता पर भी असर डालती है। बहुत से शोध संगठन की संरचना और उसकी प्रभाविकता की मात्रा के बीच संबंध स्थापित करने के लिए हुए हैं, साथ ही किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए संगठन की मानक संरचना खोजने के प्रयास भी हुए हैं। व्यावसायिक संगठन भी इस मुद्दे में काफी रुचि रखते हैं। वे भी चाहते हैं कि संगठन का इस प्रकार से पुनर्गठन हो कि उसकी प्रभाविकता- अच्छे परिणामों (उच्च उत्पादन क्षमता और अधिक लाभ की संभावना) की अपेक्षा कर सकें और बदलते व्यावसायिक माहौल में चुनौतियों का समना कर सकें।

लेखक परिचय

मद्रास विश्वविद्यालय से इंजीनियरिंग में उपाधि, आईआईएम कलकत्ता से प्रबंधन में कोर्स।

बैंगलुरु से करीब 40 किलोमीटर दूर स्थित शैक्षिक नवाचार के केन्द्र 'सेन्टर फॉर लर्निंग' के संस्थापक सदस्य।

सम्पर्क

545, बाणगिरी नगर, बनाशकारी 3rd स्टेज, बैंगलुरु-560085

संगठन के प्रति इस तरह की चिंता शिक्षा के विमर्शों और शैक्षणिक संगठनों से एकदम नदारद है। भारत में शैक्षणिक संस्थान परंपरागत तरीके से ही संरचित हैं। लगभग पिछली एक सदी में इसमें शायद ही थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ हो। क्या इसके मायने ये लगाए जाएं कि हमने

एक आदर्श संगठन व्यवस्था खोज ली है ? या ये कि इस दिशा में बहुत कम शोध और चिंतन किया गया है ? मुझे दूसरी बात ज्यादा सही लगती है। मैं बदलाव की बात करते हुए उन दो महत्वपूर्ण कारकों के बारे में बात करूंगा जो सीखने की प्रक्रिया से जुड़े हैं-

● प्रभावी संप्रेषण और फीडबैक

● स्कूली रिश्तों में सत्ता और शक्ति

सीखने की प्रभाविकता वास्तव में तो सूचनाओं के मुक्त प्रवाह पर ही निर्भर करती है। और ये प्रवाह दोतरफा- शिक्षक और बच्चे दोनों ओर से कक्षा-कक्ष और शिक्षक-कक्ष में होता है। पारंपरिक तौर पर तो ये माना जाता रहा है कि शिक्षक सूचनाओं और ज्ञान का स्रोत होता है और वह ये ज्ञान बच्चों को 'प्रदान करता' है। आज हम सीखने का एक अधिक परिष्कृत दृष्टिकोण रखते हैं जिसमें माना जाता है कि सीखने के 'ज्ञान देने' वाले दृष्टिकोण को आमूल बदलने की जरूरत है। लेकिन ये नई समझ तब तक वास्तव में लागू नहीं हो सकती जब तक कक्षा-कक्ष और स्कूल की व्यवस्था में कोई बड़ा बदलाव नहीं होता।

परंपरागत रूप से कक्षा-कक्ष में शिक्षक की सत्ता बेलगाम होती है। शारीरिक दण्ड एक आम बात रही है। आज भी देश के बहुत से स्कूलों में स्थिति इससे भिन्न नहीं है। शिक्षक पर सवाल उठाने की शिक्षार्थी की स्वतंत्रता पर तो जबरदस्त बंदिश है। ऐसे में समझने के लिए सीखने की बात करना बहुत दूर की बात है और ये तब तक संभव नहीं जब तक शिक्षक और बच्चे के बीच इस तरह के संबंध नहीं बन जाते।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि कक्षा-कक्ष से निकलते ही शिक्षक की स्थिति बदल जाती है। कक्षा के बाहर वह भी उतना ही शक्तिहीन हो जाता है जितना कि उसकी मौजूदगी में कक्षा-कक्ष में कोई बच्चा। कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी अगर ये कहा जाए कि भारतीय स्कूल व्यवस्था में शिक्षक की भूमिका को बेहद कमतर करके आंका गया है। मानो वह सभा कराने वाला कोई कार्मिक हो। शिक्षाक्रम विकसित करने या स्कूली व्यवस्था में शिक्षक की शायद ही कोई भूमिका होती हो। व्यवस्था के फौजी प्रतिमान और नियंत्रण की शृंखला ही इस व्यवस्था का मानदण्ड है। परीक्षा व्यवस्था के 'रटन्त' आधारित होने के कारण किसी सु-सक्रिय शिक्षक की जरूरत महसूस नहीं होती। और इस सब का कुपरिणाम रचनात्मकता और समझ के हास के रूप में दिखता है।

दो स्पष्टीकरण

यहां पर मैंने जो दो शब्द इस्तेमाल किए हैं उनका स्पष्टीकरण आगे बढ़ने से पहले जरूरी लगता है। एक 'लोकतंत्र' और दूसरा 'ढांचा'।

लोकतंत्र एक सहज अर्थ तो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधिक शासन है। मैं इस शब्द का प्रयोग और ज्यादा सहज अर्थ के लिए करूंगा। हमारे संदर्भ में लोकतंत्र का अर्थ सत्ता और शक्ति के बंधनों को परिवेश में सीखने के लिए ढीला करना है ताकि सीखना शिक्षार्थी की जरूरत के अनुरूप और संवेदनशील हो सके।

'ढांचे' के बारे में कहना कुछ ज्यादा मुश्किल है। अनेक संगठनों और समूहों में कुछ अपरिवर्तनीय कारक होते हैं जिनका उनके काम पर बड़ा असर पड़ता है। इनमें से कई तो वास्तविकता में दिखते हैं और कई नहीं भी दिखते। मिसाल के तौर पर, कक्षा-कक्ष की भौतिक व्यवस्था और स्कूल परिसर का स्थापत्य स्कूल के ढांचे के बेहद महत्वपूर्ण कारक हैं। और दूसरी तरफ स्कूल में सत्ता व्यवस्था और शिक्षक की भूमिका स्कूल के ढांचे को अलग तरह से प्रभावित करते हैं। और मुश्किल ये है कि आप स्कूल के इन कारकों और उसमें चलने वाली प्रक्रिया को अलग करके देखने की कोशिश करेंगे तो आपको दिक्कत महसूस होगी। असल में ये आपस में गुंथे हुए और एक-दूसरे को मजबूती प्रदान करते हैं। फिर भी ढांचे की ये समझ काफी उपयोगी है और स्कूल में काम करने की दृष्टि से काफी अर्थपूर्ण हो सकती है।

किन बदलावों की जरूरत है ?

मैं तीन बातों पर जोर दूंगा जिनमें बदलाव की जरूरत है। पहली, शिक्षकों को खुद को उन समस्याओं से उलझाना सीखना होगा जो उनकी समझ से परे समझ ली जाती हैं। शिक्षक और शिक्षक समुदाय को शिक्षा की उन जिम्मेदारियों में अपनी भगीदारी निभानी होगी जिन्हें विशेषज्ञों के लिए छोड़ दिया है। मिसाल के तौर पर, शिक्षाक्रम निर्माण और स्कूल प्रशासन में भागीदारी एक शिक्षक की जिम्मेदारी होनी चाहिए लेकिन इसे विशेषज्ञ प्रशासकों और शिक्षा-विशेषज्ञों के जिम्मे डाल दिया गया है।

दूसरे, शिक्षकों से की जाने वाली अपेक्षाओं और उसके प्रति व्यवहार में बड़े बदलाव की जरूरत है। उसके लिए जरूरी है कि वह अपने विषय-क्षेत्र और पाठ्यसामग्री में आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार रहे। और इस तरह से वह किन्हीं भी कठिन परिस्थितियों में अपना क्षमता वर्धन करेगा ताकि शिक्षार्थियों की जरूरतों को पूरा कर सके।

और तीसरे, शिक्षार्थियों को अपनी अपेक्षाएं और प्रतिक्रिया भी बदलनी होगी। शिक्षार्थियों द्वारा कम सत्ताशील और उन्मुक्त कक्षा-कक्ष की अपेक्षा कर पाने के लिए उनकी मदद करनी होगी। इसके लिए स्कूल प्रशासन शिक्षार्थियों के अपने परिवार और स्वयं शिक्षकों के सहयोग की जरूरत होगी। केवल इसी तरह के माहौल में दो तरफा संवाद संभव हो सकेगा।

मैं इस बात पर जोर देना चाहूंगा कि ढांचे में बदलाव कर देने भर से अपने-आप परिणाम में बदलाव नहीं आ जाएगा। उसके लिए नई अपेक्षाओं, अभ्यासों और क्षमताओं की भी जरूरत होगी और दृढ़ता की भी। मैं यहां कुछ और बातें भी चर्चा के लिए रखना चाहूंगा।

- केवल आदेश दे देने भर से काम नहीं चलेगा। प्रशासकों और तंत्र के अन्य अधिकारियों को परिवर्तन के लिए तर्क खोजने होंगे और साथ ही ये भी देखना होगा कि प्रभाव की दृष्टि से उनमें कितनी क्षमता है। साथ ही उन्हें अपनी भागीदारी भी सुनिश्चित करनी होगी। अतः स्कूल प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के साथ ही कुछ क्षमताएं भी विकसित करनी होंगी। जैसे- लचीले शिक्षाक्रम की योजना बनाने की क्षमता।

- शिक्षकों को यह लग सकता है कि कक्षा-कक्ष में उनकी सत्ता पहले से कम हो रही है। ऐसे में एक अधिक आश्वस्त (ज्ञान और संबंध की दृष्टि से) शिक्षक ही ऐसे में शिक्षार्थियों को अपनी सत्ता सौंप पाएगा, ताकि वे खुलकर सवाल पूछ सकें और उसके जवाबों को चुनौती दे सकें। ऐसा करने के लिए शिक्षकों के उन्मुखीकरण की एक शृंखला की जरूरत होगी और उन स्थानों के भ्रमण की भी जरूरत होगी जहां इस तरह का माहौल हो ताकि वे इस माहौल का स्वाद चख सकें और ये जान सकें कि कक्षा-कक्ष में क्या अपेक्षाएं की जा सकती हैं।

- शिक्षार्थियों में इस तरह के उन्मुक्त कक्षा-कक्ष का लाभ उठाने की क्षमता निर्माण आरम्भ से करना होगा। शिक्षार्थी- जो बरसों से नोट्स लेने के आदी हो चुके हैं- इस परिवर्तन का विरोध करें। ज्ञान 'प्राप्त करने' से ज्ञान का खुद 'निर्माण करने' के इस बदलाव में वयस्कों (अभिभावकों, शिक्षकों और समुदाय) को अपनी प्रेरणाप्रद भूमिका निभानी होगी। वे उनके सीखने में कुछ नया खोज लेने जैसी खुशी प्रदर्शित करके, सीखे जाने वाले सिद्धान्तों और अवधारणाओं की प्रकृति और उनकी सीमाओं के बारे में बात करके और भागीदारी द्वारा सीखने पर जोर देकर मदद कर सकते हैं।

ढांचे को लक्षित करना

अब मैं ढांचे के कुछ पहलुओं और प्रक्रियाओं को इंगित करना चाहूंगा जिनमें बदलाव संभव है। लेकिन ये किसी क्रम में नहीं हैं।

1. किसी कक्षा में बच्चों की संख्या।
2. कक्षा-कक्ष का स्थापत्य और फर्नीचर का डिजाइन, जहां उपयोग हुआ हो।
3. ऐसी सामग्री की उपलब्धता जो ब्लैकबोर्ड और व्याख्यान पद्धति पर जोर न दे।

4. शिक्षाक्रम में छानबीन और समझने, सोचने और समस्या समाधान पर जोर दिया जाए।

5. बेहतर मूल्यांकन पद्धति का उपयोग। रटने पर जोर न हो। बेहतर परीक्षा व्यवस्था।

6. शिक्षकों और शिक्षक समूहों को ज्यादा स्वायत्तता दी जाए।

7. स्कूलों में पदानुक्रम कम हो या बिल्कुल न हो।

8. स्कूलों के संचालन में अभिभावकों की ज्यादा भागीदारी।

मुझे लग रहा है कि आप पढ़ते वक्त 'असंभव' बुदबुदा रहे हैं। रुकिए! हो सकता है कि यक-ब-यक इस तरह का आमूल बदलाव आपको अवास्तविक लगें। लेकिन ऊपर दी हुई सूची में से आपको कोई एक बात चुनने से कौन रोक रहा है? आप एक बात चुनें और संदर्भ के अनुसार रास्ते तलाशने का काम करें कि ऐन उस मुद्दे को लेकर कैसे और कितने बदलाव किए जा सकते हैं।

मैं इस पड़ताल को जारी रखते हुए ऊपर की सूची में से एक चीज को लेकर विस्तार से बात करना चाहूंगा। वह है- स्कूलों में पदानुक्रम की धारणा। इसके बाद मैं कुछ उन चुनौतियों और मुश्किलों के बारे में बात करना चाहूंगा जो किसी समूह की इस धारणा को बदलने का काम करते समय झेलनी पड़ती हैं।

स्कूलों में पदानुक्रम की धारणा

पदानुक्रम भारतीय समाज का एक केन्द्रीय तत्व है। हम इस विश्वास पर आसानी से फिसल जाते हैं कि हमारी प्रतिष्ठा और सत्ता का निर्धारण इस या उस प्रकार के पदानुक्रम से होता है। हजारों साल में बनी इस मानसिकता में किसी तेज बदलाव की अपेक्षा करना क्या ठीक होगा? इसलिए मैं यहां पर अपनी बात शिक्षक समुदाय के गैर-पदानुक्रमीय व्यवहार तक सीमित रखूंगा। मैं समझता हूं कि शिक्षक-पदानुक्रम में सत्ता संबंधों का बदलाव, कक्षा-कक्ष की सक्रियता को प्रभावित करने के लिए जरूरी है। और यह प्रक्रिया अपरिहार्य रूप से क्रांतिकारी होनी चाहिए। कुछ विशिष्ट आदेशों के माध्यम से शिक्षकों के छोटे समूह बनाने के विचार को परखा जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर, प्राथमिक स्तर के शिक्षकों का एक छोटा समूह हो सकता है जो प्राथमिक स्तर के बारे में सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेने में रुचि रखते हों। इन निर्णयों में स्कूल का कैलेण्डर बनाना, बच्चों का स्तर आकलन, अभिभावकों से संपर्क करना और काम की साझेदारी को लेकर हो सकते हैं। शुरुआत में किसी नेता या वरिष्ठ को समूह पर थोपना गलत नहीं होगा।

क्या इससे किसी व्यक्ति के बजाए किसी कमेटी या समूह की तानाशाही स्थापित हो जाएगी? जरूरी नहीं कि ऐसा ही हो।

शुरुआत में हो सकता है कि कुछ दुविधा हो लेकिन जब इस समूह के सदस्य एक लम्बे दौर से गुजरेंगे तो निर्णय लेने और अपने काम के मानदण्ड विकसित कर सकें। इस मामले में वास्तव में लम्बे समय में ही परिणाम मिल सकेंगे। स्कूल प्रशासन को इस समूह की इस दौर में मदद करनी होगी। ये समझना जरूरी है कि इस तरह के समूह थोड़े समय के लिए बनी हुई कमेटी नहीं हैं। संभावना है कि इस तरह के समूह में अनौपचारिक नेतृत्व की प्रवृत्ति उभरे।

एक कूपमण्डूक धारणा है कि कम लोगों में ही नेतृत्व की क्षमता होती है जो उन्हें औरों से अलग रखता है और यही उन्हें सत्ताशील बनाता है। इस तरह का नेतृत्व अगर समूह में मुक्त अभिव्यक्ति और संवाद को रोकता है तो लोग अपनी स्वायत्तता का दावा करना सीखेंगे। पहलकदमी बहुत महत्वपूर्ण होती है, लेकिन जब ये पहलकदमी नेतृत्व में बदल जाती है तो शक्ति के पुराने प्रतिमान खुद को पुनः स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसमें संभावित समस्याएं क्या हो सकती हैं ? ये रोचक है कि पारंपरिक ढांचों में जो पदानुक्रम होता है वह व्यवहारों और भावनाओं के अनेक प्रतिमान बनाता रहता है जो किसी ज्यादा खुले ढांचे में ही दिखाई पड़ सकते हैं। उदाहरण के लिए, निर्णय लेने के कारण लोगों के निजी हित बाधित होते हैं, और इसको लेकर एक चिन्ता बनी रहती है। इसी तरह खुली बातचीत या संवाद को संभाल न पाना और किसी की सत्ता को चुनौती न दे पाना इसी तरह के प्रतिमान हैं। इस तरह के प्रतिमानों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इस तरह की व्यवस्था में शिक्षक आपसी संबंधों को मजबूत बनाने और रचनात्मक सहयोग के नए विकल्प खोज सकते हैं; ये विमर्श का मुद्दा है लेकिन मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं कि इस तरह के सीखने का कुछ न कुछ असर कक्षा-कक्ष में भी दिखाई देगा।

संवाद का विचार

काम करने की किसी जड़ पदानुक्रम वाली से अधिक लचीली व्यवस्था तक पहुंचने के दौरान संवाद की प्रक्रिया बेहद मददगार हो सकती है। यहां संवाद का मतलब उस प्रक्रिया से है जो समूह के बीच विचारों के आदान-प्रदान से जुड़ी है और समूह के उन व्यक्तियों के बीच संवाद से है जो किसी आम हित के लिए आपस में विचारों को बेलगाम छोड़ने और एक-दूसरे को समालोचनात्मक नजरिए से देखना पसंद करते हैं। मेरा विश्वास है कि इस तरह की प्रक्रिया से उनको बेहद लाभ होगा।

लगभग पिछले दो दशकों से मैं बेंगलुरु के नजदीक एक स्कूल 'सेंटर फॉर लर्निंग' से जुड़ा हुआ हूँ। इस स्कूल के बारे में मेरा दावा है कि ये स्कूल शिक्षकों के बूते ही चलता है। इसका अर्थ ये है कि शिक्षक

समूह में सत्ता का कोई खास ढांचा नहीं है और सभी महत्वपूर्ण निर्णय शिक्षक समूह द्वारा सामूहिक रूप से ही लिए जाते हैं। परंपरागत औपचारिक पद समाप्त कर दिए गए हैं और भूमिकाएं निर्धारित हैं, साझी हैं और समय-समय पर बदलती रहती हैं। वरिष्ठता किसी सुविधा या सम्मान की बात नहीं है। अधिकांश निर्णय शिक्षकों की साप्ताहिक बैठक में- अक्सर शुक्रवार को- लिए जाते हैं। इन बैठकों में कोई व्यक्ति अध्यक्षता नहीं करता। बस कोई एक व्यक्ति चर्चा को व्यवस्थित रूप से चलाता है। और ये खास तौर पर तब होता है जब किसी मुद्दे पर लोगों की भागीदारी कुछ अधिक होती है।

अनबनों का निपटारा

कोई भी समूह जब साथ मिलकर काम करता है, तो देर-सबेर आपसी मनमुटाव होने की चुनौती का सामना करना लाजमी है। मैं यहां पर दो प्रकार की अनबन में थोड़ा फर्क करना चाहूंगा। एक, वैचारिक और दूसरी भावनात्मक। जाहिर है कि पहली से ही दूसरी भी जनमती है। आम तौर पर समूह अपनी वैचारिक अनबनों को थोड़े शोरगुल के साथ निपटा लेते हैं लेकिन वे भावनात्मक अनबनों को समझने और उनका निपटारा करने में काफी कच्चे होते हैं। कभी-कभी जिन विचारों के साथ आप गहरे जुड़े होते हैं और उन पर जब चोट होती है तो बेहद आवेश की स्थिति में भावनात्मक अनबन का माहौल बन सकता है। अनबनों को अगर न सुलझाया जाए तो ये आखिरी झगड़ा भी बन सकता है।

कुछ स्थितियों को छोड़ दें तो किसी झगड़े को निपटाने के लिए समूह संवाद का सहारा लेता है। एक दूसरे को गंभीरता से सुनना और निर्वैयक्तिक साथीपन की भावना एक स्वस्थ संवाद बनाने और झगड़े के निपटारे में काफी मदद करती है। अधिकांश समस्याओं के एक से ज्यादा हल खोज लिए जाते हैं। आम तौर पर झगड़े किसी विश्वास या व्यक्ति के साथ किसी भावना को जोड़कर देखने की वजह से होते हैं। इसके बारे में सचेत रहने से हो सकता है कि झगड़े को रोक न सकें लेकिन समूह उसको सही दिशा में संचालित तो कर ही सकता है।

किसी रचनात्मक समूह को लोग भी रचनात्मक ही चाहिए। क्या हमारा शिक्षक समुदाय इस तरह की 'खतरनाक' छानबीन में अपनी जीवन ऊर्जा का बड़ा हिस्सा लगाने को तैयार है ? और इस प्रक्रिया में प्रशिक्षण की क्या भूमिका हो सकती है ? ऐसे समाज में- जहां शिक्षण एक दौयम दर्जे का काम माना जाता हो- क्या एक नया दृष्टिकोण पनप सकता है ? ये सवाल किसी और दिन के लिए छोड़ देते हैं। ♦